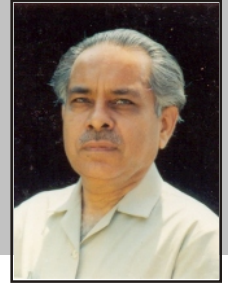


हमारे विश्वविद्यालय किस गिनती में हैं?



आचार्य भूमिज देव

गुलाम भारत के विश्वविद्यालय आज़ाद थे लेकिन आज़ाद भारत के अनेक विश्वविद्यालय गुलाम, बेहाल, जर्जर और विपन्न होते रहे हैं। आज़ादी के साठ वर्ष बीत जाने के बावजूद अक्सर ऐसा लगता है कि हम अपने अधिकांश विश्वविद्यालयों को पूरी तरह स्वीकृत नहीं कर पाए हैं, बहिष्कृत कर नहीं सकते, यदा-कदा बेझिझक तिरस्कृत करते रहते हैं। पुराने प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय हमसे ठीक तरह, विश्व-स्तर के मानकों के अनुरूप, संभलते नहीं, लेकिन नित-नये कुकुरमुत्तों की तरह के नये शिक्षा-केन्द्रों की शुरुआत करने में हम अप्रत्याशित तेज़ी दिखाते हैं। सरसरी तौर से देखने पर ही पता चल सकता है कि फूहड़ तथा अव्यवस्थित विस्तार के नाम पर हमने अपने अनेक पुराने आलीशान भवनों की वास्तुकला को कितनी बेरहमी से तार-तार किया है। यह देखने के बाद उन विश्वविद्यालयों द्वारा देश के अन्य ऐतिहासिक भवनों को सुरक्षित करने का नया सर्जनात्मक ज्ञान और हुनर प्रदान करने की आशा करना बेमानी लगता है।

शहरों के बाहर विशाल नये आधुनिक परिसर बनाने का हमारा जुनून भी देखने-समझने योग्य रहा है। एक विश्वविद्यालय ने तो परिसर में भव्य भवनों के त्वरित निर्माण की उम्मीद में अपनी अधिग्रहीत ज़मीन पर फलता-फूलता एक पुराना पूरा चाय-बागान ही उखाड़ फेंका। यदि यह भूल न की गई होती तो उसी की आमदनी से आज उस विश्वविद्यालय का व्यय चल जाता। ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ परिसरों में दशकों तक घनी घास और काँस उगती रही। व्यवस्थित तरीके से वहाँ सघन वनीकरण योजना लागू करने की किसी को फुर्सत नहीं थी। समुचित यातायात व्यवस्था न होने के कारण भी शहर से दूर स्थित ऐसे परिसरों तक सुविधा से जल्दी पहुँचना भी कठिन रहा है। छात्र-अध्यापक-कर्मचारी वहाँ पहुँचते ही वापस घर लौटने का जुगाड़ लगाते वर्षों तक देखे गए। सायंकाल वहाँ सन्नाटा पसरता था।

परिसरों के विकास के मामले में ऐसी अधूरी कल्पना न प्राचीन भारत में रही थी और न पश्चिम में।

तब और अब में सबसे अधिक गिरावट आई है अध्यापक-छात्र अनुपात में। हम न तो पुरानी परम्पराओं को लेकर चल रहे हैं और न ही अच्छे विदेशी विश्वविद्यालयों के मानक लागू कर रहे हैं। हमारे उपनिषद शब्द का अर्थ है अध्यापक के निकट बैठ कर सीखना। इसीलिए नालन्दा विश्वविद्यालय में यह अनुपात 1:7 था। 372 वर्ष पुराने हार्वर्ड विश्वविद्यालय में यह अनुपात सदैव से 1:9 रहा है। हमारे यहाँ आज यह 1:70-200 तक है। परिणामतः स्नातकों की पढ़ाई का उत्कृष्ट स्तर कैसा हो, यह समझने के लिए हमें उन्नीसवीं सदी के मध्य में कैम्ब्रिज के दो छात्र पार्किंसन तथा थॉम्सन के परीक्षा-परिणाम पर गौर करना होगा। दोनों ट्राईपास के छात्र थे। दोनों छात्रों ने एक अत्यंत कठिन प्रश्न समान तरीके से हल किया। पार्किंसन ने प्रथम स्थान प्राप्त किया था तथा थॉम्सन ने दूसरा परीक्षक ने सबसे पहले पार्किंसन को बुलाकर पूछा कि उसने किस प्रकार इतना कठिन प्रश्न हल कर लिया था। उसने बताया कि एक शोध-पत्र में, जिसके लेखक ने अपना नाम अज्ञात रखा था, इसे पढ़ा था। जब परीक्षक ने दूसरे छात्र थॉम्सन से बुलाकर यही बात पूछी तो उसने बताया कि वह शोध-पत्र उसी ने लिखा था। कालांतर में दोनों छात्रों को नोबेल पुरस्कार मिला। काश, करीब डेढ़ सौ वर्ष बाद आज भी हमारे स्नातकों का यह स्तर बन पाता।

पूर्व में विज्ञान के परास्नातक छात्र विश्वविद्यालय में दिन भर, तथा आवश्यकता पड़ने पर देर रात तक पढ़ते थे। अब उनकी पढ़ाई सुबह-शाम की पाली में लगती है, जबकि ज्ञान-विज्ञान अत्यन्त बढ़ गया है। पहले छात्रों की संख्या बढ़ाने से पहले विश्वविद्यालयों में सुविधाओं का समुचित आकलन होता था। आज इसे शासनादेश के

गुलाम भारत के विश्वविद्यालय आज़ाद थे लेकिन आज़ाद भारत के अनेक विश्वविद्यालय गुलाम, बेहाल, जर्जर और विपन्न होते रहे हैं। आज़ादी के साठ वर्ष बीत जाने के बावजूद अक्सर ऐसा लगता है कि हम अपने अधिकांश विश्वविद्यालयों को पूरी तरह स्वीकृत नहीं कर पाए हैं, बहिष्कृत कर नहीं सकते, यदा-कदा बेझिझक तिरस्कृत करते रहते हैं।



माध्यम से लागू कर दिया जाता है। विश्वविद्यालय में स्ववित्तीय योजना के तहत अनेक ऐसे विषय रातों-रात खोल दिए गए हैं जहाँ एक भी पूर्णकालिक अध्यापक कार्यरत नहीं है। बाजारीकरण की इस धमाचौकड़ी और लालच से शिक्षा केन्द्रों में सरस्वती की वरीयता कम तथा लक्ष्मी की चकाचौंध बढ़ी है। विश्वविद्यालयों को इस प्रकार पूरी तरह बाज़ार के रहमोकरम पर छोड़ना अनुचित है। विश्वविद्यालय तिजारत की मण्डी नहीं बन सकते।

आधुनिकतम ज्ञान और विज्ञान के मामले में हमारा रवैया पहले भी खराब था और आज भी अच्छा नहीं है। यदि पिछले साठ वर्षों में विदेशों से लौटने पर हमारे विद्वान आचार्यों ने पश्चिम के अच्छे विश्वविद्यालयों की स्वस्थ परम्पराओं के बीज खुले मन से हमारे यहाँ रोपे होते तो आज विश्व में हमारी स्थिति विलक्षण होती। साठ के दशक में, जब यूरोप में छात्रों का आन्दोलन चल रहा था तथा वे “मना करना मना है” के नारे बुलन्द कर रहे थे, अमेरिका का एक प्रतिनिधि मण्डल कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के कुलपति से मिलने आया था। वहाँ की शान्ति और व्यवस्था से प्रभावित होकर जब प्रतिनिधि-मण्डल ने कुलपति से पूछा कि कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय कैसे चलता है, तब कुलपति ने उत्तर दिया, “मैं कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय को नहीं चलाता। यह विश्वविद्यालय परिपाटियों के सहारे चलता है।” प्रतिनिधि मण्डल ने दूसरा सरल लेकिन अत्यन्त अर्थपूर्ण प्रश्न पूछा, “आपके लॉन इतने सुन्दर कैसे हैं?” कुलपति ने उत्तर दिया, “सैकड़ों वर्षों की मोड़ंग व रोलिंग के कारण!” दूसरी ओर हजारों वर्षों पुरानी संस्कृति से सम्पूक्त भारत देश आज भी विश्वविद्यालयों में स्वस्थ परम्पराएं डालने में कमज़ोर है।

इन्टरनेट के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान की यात्रा में अद्भुत गति आई है, लेकिन विचित्र संकट यह है कि हमारी आंखों और कानों से मस्तिष्क तक पहुँचने में अनेक अवरोध हैं। अतः ज्ञान की पैदावार तो बहुत है लेकिन उसकी खपत कम है। “वीणा पुस्तकधारिणी” वाले देश में किताब पढ़ना कम होता जा रहा है। “ग्रन्थी भवति पण्डितः”

का रिश्ता डगमगा गया है। विद्यार्थी टेलीविजन देखने में अधिक मशगूल हैं। उनकी एकाग्रता का अन्तराल सिमटता जा रहा है। “किताब” शब्द “किताबत” से निकला है। जब उर्दू में हाथ से सुलेख लिखा जाता था उसे किताब कहते थे। अमेरिका में 232 वर्ष पहले टॉम पेन की एक किताब “कॉमन सेन्स” की एक लाख प्रति बिकी थीं। हमारे यहाँ पुस्तकालयों की दुर्दशा है। गए वह दिन जब तक्षशिला विश्वविद्यालय के पुस्तकालयध्यक्ष ने जिज्ञासु चाणक्य के देर रात पढ़ते रहने के बाद यह पूछने पर कि पुस्तकालय कब बन्द होता है बताया था कि तक्षशिला विश्वविद्यालय का पुस्तकालय कभी बन्द नहीं होता।

पहले की तुलना में वर्तमान में विश्वविद्यालयों में अनुसंधान के स्तर में यहाँ तक गिरावट आई है कि एक विश्वविद्यालय के कुलपति तक एक नोबेल पुरस्कार विजेता के शोध-पत्र की चोरी में पकड़े गए। वर्ष 1990, 1994, 1997 में अन्तर्राष्ट्रीय सूची में जिन 4000 शोध-पत्रों का हवाला दिया गया था, उनमें केवल 12 भारत से प्रकाशित हुए थे। जहाँ एक ओर एम.आई.टी. तथा स्टैनफोर्ड से प्रकाशित क्रमशः 45 तथा 52 शोध-पत्रों का एक वर्ष में हवाला दिया गया वहीं हमारे आई.आई.टी. से यह संख्या मात्र 2-3 रही। यद्यपि कुछ गिने-चुने विश्वविद्यालयों में शोध-स्तर आई.आई.टी. से बेहतर हैं। हम तब तक पिछड़ते जाएंगे जब तक हमारे यहाँ प्रकाशित सभी शोध-पत्रों का सार प्रकाशित नहीं होगा।

हमारे विश्वविद्यालयों की वर्तमान दुर्दशा का एक मुख्य कारण उनमें समुचित वित्तीय संसाधनों की कमी भी है। अधिकांश विश्वविद्यालयों में अनुदान रुक-रुक कर रिसता-टपकता है। घाटे तथा वित्तीय खींचतान में काम चलता है। सरकारें उचित फीस लेकर अच्छी शिक्षा मुहैया कराने के अपने सामाजिक-राष्ट्रीय दायित्व से पल्ला झाड़ती रही हैं। विदेशों में अधिकांश विश्वविद्यालयों को ठोस वित्तीय आधार तथा आज्ञादी उपलब्ध है। वे पूरी तरह शासन पर निर्भर नहीं रहते। उनके यहाँ अरबों रुपयों के कॉरपस फण्ड विकसित करने की स्वस्थ तथा अत्यन्त पुरानी परिपाटी है, जिसके कारण उनकी वित्तीय स्वायत्तता तथा स्थायित्व पर खतरा नहीं मंडराता। भारत में भी सिद्धान्ततः कॉरपस फण्ड विकसित करने की अनुमति विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने दे दी थी। कुछ विश्वविद्यालयों को मैचिंग अनुदान देकर इस व्यवस्था को सुदृढ़ करने का शुभारम्भ भी किया गया था, किन्तु वर्तमान में यह बन्द है। सारांश में, हमें शैक्षिक, प्रशासनिक तथा वित्तीय तीनों धरातलों पर “विश्वविद्यालय” शब्द के विश्वत्व के स्तर पर अन्य विकसित देशों की कतार में खड़े होने के लिए कई मील के पत्थर पार करने पड़ेंगे। □

लेखक गोरखपुर, रुहेल खंड तथा आगरा विश्वविद्यालयों के पूर्व कुलपति रहे हैं
संप्रति- कुलपति मंगलायतन विश्वविद्यालय-अलीगढ़